RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-16, अंक-2, मार्च अप्रैल मई 2023

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-16 अंक - 2 मार्च-अप्रैल-मई-2023

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

वेदकालीन आर्थिक जीवन की विवेचना

भावना जैन
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

वेदकालीन समाज का आर्थिक जीवन भारतीय सभ्यता के प्रारम्भिक एवं सुदृढ़ चरण को प्रतिबिम्बित करता है। वेद न केवल धार्मिक-दार्शनिक ग्रन्थ हैं, बल्कि वे तत्कालीन समाज की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक संरचना का भी सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं। वैदिक युग में मानव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन साधनों, उत्पादन-प्रणालियों तथा विनिमय-व्यवस्थाओं का विकास हुआ, उन्होंने आगे चलकर भारतीय अर्थव्यवस्था की आधारशिला रखी। इस दृष्टि से वेदकालिक आर्थिक जीवन का अध्ययन भारतीय संस्कृति की मौलिक समझ के लिए अनिवार्य है।

वैदिक आर्य आदिम शिकारी अथवा केवल संग्रह-आधारित जीवन से आगे बढ़कर स्थायी एवं संगठित सामाजिक जीवन में प्रवेश कर चुके थे। कृषि, पशुपालन और शिल्प-व्यवसाय उनके जीवन के मुख्य आर्थिक आधार बन चुके थे। कृषि को वैदिक अर्थव्यवस्था की रीढ़ माना जा सकता है। ऋग्वेद में खेत, हल, बीज, सिंचाई तथा फसल से सम्बन्धित अनेक शब्दों का उल्लेख मिलता है, जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि कृषि एक सुव्यवस्थित एवं सम्मानित व्यवसाय था। हल द्वारा भूमि जोतना, वर्षा पर निर्भर खेती तथा अन्नोत्पादन की कामना से देवताओं की उपासना करना उस समय के कृषक जीवन की विशेषताएँ थीं। यव (जौ) और गोधूम (गेहूँ) जैसे अन्नों का प्रयोग व्यापक था, जिससे खाद्य-सुरक्षा की स्थिति का भी आभास मिलता है।

कृषि के साथ-साथ पशुपालन वैदिक समाज की अर्थव्यवस्था का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग था। गाय को आर्थिक समृद्धि का प्रतीक माना जाता था। पशुधन न केवल दुग्ध, घृत और ऊन का स्रोत था, बल्कि विनिमय और दान की इकाई के रूप में भी उसका उपयोग होता था। ऋग्वेद में 'गो' शब्द का प्रयोग संपत्ति और वैभव के अर्थ में हुआ है, जिससे स्पष्ट होता है कि पशुधन सामाजिक-आर्थिक प्रतिष्ठा से भी जुड़ा था। घोड़े, बैल, भेड़ और बकरी भी आर्थिक जीवन में उपयोगी थे, जिनसे कृषि, परिवहन और वस्त्र-निर्माण में सहायता मिलती थी।

वैदिक युग में शिल्पों और व्यवसायों का उल्लेखनीय विकास हो चुका था। यह समाज केवल कृषि-प्रधान ही नहीं था, बल्कि उसमें विविध प्रकार के उद्योग और कुटीर शिल्प भी विकसित हो चुके थे। वस्त्र-निर्माण, विशेषतः सूती और ऊनी वस्त्रों का उद्योग उन्नत अवस्था में था। बुनकर, रंगरेज और वस्त्र-निर्माता समाज की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। लकड़ी से रथ, नाव, गृह-निर्माण के उपकरण तथा घरेलू वस्तुएँ बनाई जाती थीं, जिससे काष्ठ-शिल्प की उन्नति का पता चलता है। धातु-कर्म भी प्रचलित

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

था; ताम्र, कांस्य और लोहे के उपकरणों का प्रयोग कृषि, युद्ध और दैनिक जीवन में किया जाता था।

गृहशिल्प और कुटीर उद्योग वैदिक अर्थव्यवस्था की एक विशिष्ट विशेषता थे। अधिकांश उत्पादन गृह-आधारित था, जिससे आत्मनिर्भरता को बढ़ावा मिलता था। चटाई बुनना, रस्सी बनाना, चमड़ा-कर्म, मृद्भाण्ड निर्माण तथा अलंकरण-कला जैसे कार्य सामान्य जनजीवन से जुड़े हुए थे। इन शिल्पों ने न केवल घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति की, बल्कि विनिमय के माध्यम से आर्थिक गतिविधियों को भी गतिशील बनाया।

प्रारम्भिक वैदिक युग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि व्यवसाय किसी निश्चित वर्ण या जाति से कठोर रूप से बँधे नहीं थे। एक ही परिवार के विभिन्न सदस्य अपनी रुचि, क्षमता और दक्षता के अनुसार अलग-अलग व्यवसाय अपना सकते थे। इस स्वैच्छिक व्यावसायिक व्यवस्था से समाज में गतिशीलता और आर्थिक सुदृढ़ता बनी रहती थी। व्यक्ति के कर्म का मूल्यांकन उसकी योग्यता के आधार पर होता था, न कि जन्म के आधार पर। बाद के ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णानुसार कर्म की अवधारणा अधिक स्पष्ट हुई, परन्तु प्रारम्भिक वैदिक समाज में यह व्यवस्था अपेक्षाकृत लचीली थी।

विनिमय-व्यवस्था मुख्यत: वस्तु-विनिमय पर आधारित थी। सिक्कों का स्पष्ट प्रचलन नहीं था, किन्तु मूल्य-निर्धारण पशुधन, अन्न और अन्य उपयोगी वस्तुओं के आधार पर किया जाता था। दान और यज्ञ भी आर्थिक जीवन से जुड़े हुए थे, जिनमें अन्न, पशु और अन्य संपत्तियों का वितरण सामाजिक संतुलन बनाए रखने में सहायक था।

वैदिक गाँवों की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत कम प्रत्यक्ष सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं, फिर भी उपलब्ध संदर्भों के आधार पर तत्कालीन ग्रामीण अर्थव्यवस्था की एक रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है। 'ग्राम' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में केवल किसी भौगोलिक इकाई के रूप में ही नहीं, बल्कि कई स्थानों पर 'मनुष्यों के समूह' के अर्थ में भी किया गया है। इससे यह संकेत मिलता है कि ग्राम की अवधारणा प्रारम्भ में सामाजिक संगठन से अधिक जुड़ी हुई थी और बाद में वह एक स्थायी भौगोलिक इकाई के रूप में विकसित हुई।

भूमि वैदिक काल में व्यक्तिगत सम्पत्ति मानी जाती थी, किन्तु उस पर पूरे परिवार का सामूहिक अधिकार होता था। भूमि ही आजीविका का प्रमुख साधन थी और उसी के आधार पर ग्राम की आर्थिक स्थिति निर्धारित होती थी। खेती, पशुपालन तथा उनसे सम्बद्ध गतिविधियाँ ग्राम-जीवन की आर्थिक रीढ़ थीं। भूमि-स्वामित्व की यह पारिवारिक व्यवस्था ग्राम समाज में आर्थिक स्थिरता और सामाजिक सहयोग को बढ़ावा देती थी।

ग्रामों की सुरक्षा तथा प्रशासन का दायित्व राजा पर होता था। राजा द्वारा ग्रामों की रक्षा के बदले उनसे अंश या कर प्राप्त किया जाता था, जो राज्य की आय का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत था। इसी उद्देश्य से ग्रामों में राजा का एक प्रतिनिधि नियुक्त किया जाता था, जिसे राजकीय अधिकार प्राप्त होते थे। इन प्रतिनिधियों को ही ग्रन्थों में 'प्रिय पात्र' कहा गया है। कालान्तर में इन्हीं प्रतिनिधियों के माध्यम से जमींदारी जैसी व्यवस्था का बीज पड़ा, जहाँ भूमि-प्रशासन और कर-संग्रह स्थानीय स्तर पर संचालित होने लगा। इस प्रकार ग्रामवासी प्रत्यक्ष रूप से राजा के अधीन होते थे और उनकी आर्थिक गतिविधियाँ राज्य की अर्थव्यवस्था से

जुड़ी हुई थीं।

वैदिक युग की भौगोलिक और आर्थिक संरचना में केवल ग्राम ही नहीं, अपितु समुद्र, नदियाँ, नद (बड़ी नदियाँ), जनपद और नगर भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। नदियाँ सिंचाई, परिवहन और व्यापार की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी थीं। कई नगरों का उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है, जिनकी ऐतिहासिक वास्तविकता आज भी प्रमाणित की जा सकती है। यद्यपि कुछ नगर ऐसे भी हैं जिनकी भौगोलिक स्थिति अस्पष्ट है और जिनका परिचय केवल साहित्यिक संकेतों के माध्यम से ही उपलब्ध होता है। फिर भी यह स्पष्ट है कि नगर व्यापार, शिल्प और प्रशासन के केन्द्र के रूप में विकसित हो चुके थे।

पृथ्वी को वैदिक परम्परा में 'रत्नगर्भा वसुन्धरा' कहा गया है। यह संज्ञा केवल काव्यात्मक नहीं है, बल्कि इसके पीछे आर्थिक चेतना भी निहित है। वैदिक कवि भली-भाँति जानता था कि पृथ्वी के गर्भ में अपार सम्पत्ति निहित है। इसी कारण पृथ्वी को 'वसुमती' अर्थात् धन-सम्पत्ति से परिपूर्ण कहा गया। एक वैदिक मन्त्र में कवि पृथ्वी से मणि, सुवर्ण, धन और वैभव की कामना करता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक समाज धातुओं और खनिज सम्पदा की आर्थिक उपयोगिता से पूर्णतः परिचित था।

मणि, सुवर्ण और अन्य धातुएँ वैदिक आर्थिक जीवन के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थीं। वस्तुतः जब से मानव का धातुओं से परिचय हुआ, तभी से उसके आर्थिक जीवन में एक नवीन चरण का आरम्भ हुआ। धातुओं के न्यूनाधिक्य पर ही समृद्धि और अभाव का निर्धारण होने लगा। वैदिक समाज में यह चेतना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, जहाँ धातुओं को न केवल उपयोग की वस्तु, बल्कि समृद्धि और वैभव के प्रतीक के रूप में भी स्वीकार किया गया।

वैदिक युग की आर्थिक स्थिति को केवल प्रारम्भिक या अपरिपक्व नहीं कहा जा सकता। उपलब्ध साक्ष्यों से यह आभास मिलता है कि उस समय अर्थव्यवस्था एक परिपक्व अवस्था में पहुँच चुकी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक भारत में मुद्राओं द्वारा भी आदान-प्रदान होता था और इनका प्रयोग दान के रूप में भी किया जाता था। ऋग्वेद में अर्थनीति के अनेक आदर्श उदाहरण मिलते हैं। एक ऋचा में रुद्र के गले में स्वर्ण निष्कों का हार वर्णित है, जिसमें विभिन्न आकृतियों की स्वर्णमुद्राएँ गुँथी हुई हैं। यह वर्णन न केवल अलंकारिक है, बल्कि स्वर्णमुद्राओं के प्रचलन का भी संकेत देता है।

इसी प्रकार ऋग्वेद में विभिन्दु नामक राजा द्वारा विशाल मात्रा में निष्कों के दान का उल्लेख मिलता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि स्वर्णमुद्राएँ आर्थिक लेन-देन के साथ-साथ सामाजिक और धार्मिक दान की व्यवस्था में भी प्रयुक्त होती थीं। केदारखण्ड में स्वर्णनिर्मित भवनों और ताम्रमय पर्वतों के उल्लेख से भी धातुओं की आर्थिक एवं सांस्कृतिक महत्ता का बोध होता है।

वैदिक युग के आर्थिक जीवन में यात्रा और व्यापार का विशेष महत्व था। उस काल की व्यापारिक व्यवस्था प्रारम्भिक अवस्था में थी, जिसमें वस्तु-विनिमय ही लेन-देन का मुख्य आधार था। वस्तुओं के बदले वस्तुओं का आदान-प्रदान किया जाता था और इसी प्रक्रिया के माध्यम से व्यापारिक गतिविधियाँ संचालित होती थीं। मुद्रा के सीमित प्रयोग के कारण यह व्यवस्था पारस्परिक विश्वास, आवश्यकता और सामाजिक समझ पर आधारित थी।

वैदिक काल में यात्रा और व्यापार का क्षेत्र पर्याप्त विकसित हो चुका था। वस्तुओं का परिवहन

स्थल मार्ग और जल मार्ग—दोनों के द्वारा किया जाता था। स्थल मार्ग से व्यापारिक वस्तुओं को ढोने के लिए बैल, घोड़े, गधे, खच्चर तथा भेड़ों का व्यापक उपयोग होता था। रथों का प्रयोग केवल युद्ध या यात्रा तक सीमित न होकर व्यापारिक आवागमन में भी किया जाता था। हल चलाने के अतिरिक्त पशुओं की सहायता से सामान एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाया जाता था। ऋग्वेद में घोड़ों और कुत्तों की पीठ पर संदेश या कागज ले जाए जाने का उल्लेख मिलता है, जिससे उस समय की सुव्यवस्थित संचार-व्यवस्था और व्यापारिक सम्पर्कों का बोध होता है।

यद्यपि स्थल मार्ग व्यापार और यातायात का प्रमुख साधन था, तथापि जल मार्ग द्वारा भी व्यापार का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो चुका था। वैदिक साहित्य में इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। इस काल में 'पणि' नामक व्यापारी वर्ग का उल्लेख मिलता है, जो स्थल और जल—दोनों मार्गों से वस्तुओं का आदान-प्रदान करता था। व्यापार की वस्तुएँ मुख्यत: कृषि तथा शिल्प-उद्योगों से उत्पन्न उत्पाद होती थीं, जिससे उत्पादन और वितरण की एक संगठित आर्थिक व्यवस्था का संकेत मिलता है।

वैदिक काल में बाजारों का अस्तित्व भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। विभिन्न ग्रन्थों में वस्तुओं के क्रय-विक्रय तथा मोल-भाव का उल्लेख मिलता है। व्यापारी और ग्राहक के बीच जो शर्त एक बार निश्चित हो जाती थी, उसका उल्लंघन नहीं किया जाता था। इससे तत्कालीन समाज में व्यापारिक नैतिकता, विश्वास और ईमानदारी की उच्च भावना का परिचय मिलता है।

ऋग्वेद के अनेक मंत्रों से यह ज्ञात होता है कि आर्य लोग समुद्री यात्राओं से भी परिचित थे। ऋग्वेद में चार समुद्रों का उल्लेख मिलता है, जो उस युग की भौगोलिक चेतना और समुद्री ज्ञान को दर्शाता है। कुछ संदर्भों से यह भी स्पष्ट होता है कि आर्य इन समुद्रों में भ्रमण कर लाभ की आकांक्षा से व्यापार किया करते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक व्यापार केवल स्थानीय स्तर तक सीमित न होकर दूरस्थ क्षेत्रों तक विस्तृत हो चुका था।

जलयान के रूप में नौकाओं का उल्लेख वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर मिलता है। नदियों को पार करने और समुद्री यात्राओं के लिए नौकाओं का प्रयोग किया जाता था। एक संदर्भ से ज्ञात होता है कि ये नौकाएँ लकड़ी से निर्मित होती थीं, जिससे यह संकेत मिलता है कि उस समय नौका-निर्माण की तकनीक भी विकसित अवस्था में थी।

इस प्रकार नदियों और समुद्रों के माध्यम से यात्रा और व्यापार के अनेक उल्लेख यह प्रमाणित करते हैं कि वैदिक युग की व्यापारिक स्थिति अत्यन्त उन्नत थी। व्यापार केवल स्वदेश तक सीमित नहीं रहा, बल्कि समुद्री मार्गों द्वारा द्वीपान्तरों और दूरस्थ प्रदेशों तक भी फैल चुका था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में ही वैदिक आर्यों ने समुद्री मार्गों की खोज कर ली थी और आवागमन व व्यापार के साधनों का सफल विकास कर लिया था। यात्रा और व्यापार इस प्रकार वैदिक अर्थव्यवस्था की प्रगति और गतिशीलता के प्रमुख आधार बने।

वैदिक युग में व्यापारिक विनिमय के साधन के रूप में गाय की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। गाय न केवल पशुधन का प्रतीक थी, बल्कि आर्थिक मूल्य की इकाई के रूप में भी प्रयुक्त होती थी। तथापि यह मान लेना उचित नहीं होगा कि उस काल में केवल वस्तु-विनिमय ही प्रचलित था। वैदिक ग्रन्थों से यह

स्पष्ट संकेत मिलता है कि किसी न किसी रूप में मुद्रा का भी प्रचलन था। 'निष्क' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में जिस प्रकार से हुआ है, उससे यह निश्चित रूप से किसी विशिष्ट प्रकार की मुद्रा का बोध कराता है। इसी प्रकार एक मंत्र में उल्लिखित 'मना' शब्द भी किसी सिक्का-विशेष का द्योतक प्रतीत होता है।

वैदिक आर्य आभूषणों और बहुमूल्य वस्तुओं से भली-भाँति परिचित थे। मोती का ज्ञान उन्हें था और उसका प्रयोग विशेष रूप से घोड़ों के अलंकरण में किया जाता था। ऐसे मोतियों से सुसज्जित घोड़ों को 'कृशनावन्त' कहा जाता था। अथर्ववेद में मोती उत्पन्न करने वाले शंखों (शंखकृशनः) का उल्लेख मिलता है, जो समुद्र से लाए जाते थे। इन शंखों का उपयोग ताबीज बनाने तथा कानों के आभूषणों में किया जाता था। यह विदित है कि मोती मुख्यतः दक्षिण भारत के समीपवर्ती समुद्री क्षेत्रों में प्राप्त होते थे। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वैदिक आर्य समुद्री मार्गों से इन क्षेत्रों तक पहुँचकर इस बहुमूल्य वस्तु का व्यापार करते थे।

वैदिक काल में ऋण लेने की प्रथा भी विद्यमान थी, विशेषतः जुए जैसे अवसरों पर ऋण लेने के उल्लेख मिलते हैं। ऋण न चुकाने की स्थिति अत्यन्त दुष्परिणामकारी मानी जाती थी। यद्यपि व्याज की निश्चित दर का स्पष्ट विवरण उपलब्ध नहीं होता, तथापि एक स्थान पर ऋण के आठवें भाग (शफ) तथा सोलहवें भाग (कला) के भुगतान का उल्लेख मिलता है। यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि ये अंश व्याज के थे अथवा मूलधन के। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि पूर्वजों द्वारा लिया गया ऋण उनकी संतानों द्वारा भी चुकाया जाता था, जिससे पारिवारिक उत्तरदायित्व की भावना प्रकट होती है।

उस समय 'पणि' नामक व्यापारी वर्ग व्यापार और ऋण देने के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध था। यद्यपि वे व्यापारिक दृष्टि से कुशल थे, परन्तु अत्यधिक व्याज लेने के कारण उनकी आलोचना भी की गई है। ऋग्वेद में उन्हें 'वेकनाट' कहा गया है। निरुक्त के अनुसार 'वेकनाट' वे सूदखोर होते थे, जो अपने धन को दुगुना करने की इच्छा रखते थे। वे या तो दुगुना लाभ प्राप्त करना चाहते थे या दुगुनी राशि वसूलते थे— इस प्रकार उनका उद्देश्य सदैव धन-वृद्धि ही रहता था।

वैदिक आर्य मूलतः कृषिजीवी समाज थे और कृषि को जीवन का सर्वोच्च आधार मानते थे। 'कृष्टि' शब्द से यह प्रमाणित होता है कि आर्यजन कृषि से गहरे रूप से जुड़े हुए थे। कृषि को अपनाना आर्यत्व और सामाजिक श्रेष्ठता की पहचान माना जाता था। समाज के सभी वर्गों में जीवनदायिनी पृथ्वी के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव विद्यमान था। जो लोग कृषि कार्य से विमुख रहते थे या उसे हीन दृष्टि से देखते थे, उन्हें समाज में उच्च स्थान प्राप्त नहीं होता था। इस प्रकार कृषि न केवल आर्थिक गतिविधि थी, बल्कि सामाजिक सम्मान और नैतिक मूल्यबोध से भी जुड़ी हुई थी।

वैदिक जन-जीवन का आधार कृषि होने के कारण वेदों तथा वैदिक साहित्य में पृथ्वी के प्रति गहन श्रद्धा और कृतज्ञता का भाव अभिव्यक्त हुआ है। वैदिक ऋषियों ने धरती को केवल भौतिक संसाधन के रूप में नहीं, बल्कि जीवनदायिनी माता के रूप में देखा। ऋग्वेद की एक ऋचा में स्पष्ट कहा गया है— 'यह विशाल पृथ्वी हमारी माता है' (माता पृथिवी महीयम्)। इसी भाव को अथर्ववेद की प्रसिद्ध ऋचा में और अधिक सघन रूप में व्यक्त किया गया है— 'पृथ्वी मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ' (माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः)। यह कथन आज भी भारतीय चेतना में निहित प्रकृति-प्रेम और भूमि के प्रति आत्मीयता

का द्योतक है।

वैदिक आर्यों के कृषि-प्रेम के अनेक प्रमाण वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं। कृषि को न केवल आजीविका का साधन, बल्कि सामाजिक कर्तव्य और नैतिक आचरण का आधार माना गया। वैदिक कवियों ने समाज को कृषि की ओर प्रवृत्त करने के लिए 'खेती करो' (कृषिमित् कृषस्व) जैसे प्रेरणासूत्र दिए। कृषि-आधारित जीवन-प्रणाली ने तत्कालीन समाज को आत्मनिर्भर बनाया और आर्थिक स्थिरता प्रदान की। इतना ही नहीं, सामाजिक सुधार की दृष्टि से भी कृषि को महत्त्व दिया गया। जुए जैसे दुर्व्यसनों से ग्रस्त लोगों को सही मार्ग पर लाने के लिए स्पष्ट निर्देश दिया गया— 'जुआ मत खेलो, खेती करो' (अक्षैर्मा दीव्यः, कृषिभित्कृषस्व)। इससे स्पष्ट होता है कि कृषि वैदिक समाज में केवल आर्थिक गतिविधि न होकर नैतिक जीवन का भी आधार थी।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में कृषि योग्य भूमि के विभिन्न रूपों का विस्तृत वर्णन मिलता है। कृषि-योग्य भूमि को 'उर्वरा' अथवा 'क्षेत्र' कहा गया है। इन ग्रन्थों में भूमि की उर्वरता बढ़ाने के लिए खाद के प्रयोग तथा सिंचाई की समुचित व्यवस्था पर बल दिया गया है। खाद के लिए 'शकन' या 'करीप' जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है, जबकि सिंचाई के साधन के रूप में 'खनित्र' का उल्लेख है। नदियों और कूपों—दोनों से सिंचाई की व्यवस्था प्रचलित थी, जिससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में कृषि एक सुव्यवस्थित और तकनीकी दृष्टि से विकसित प्रक्रिया थी। भूमि की उत्पादकता बढ़ाने के लिए खाद और सिंचाई—दोनों को समान रूप से आवश्यक माना गया।

उपजाऊ भूमि के अतिरिक्त बंजर अथवा अनुपजाऊ भूमि की भी स्पष्ट पहचान थी। विभिन्न ग्रन्थों में 'खिल' या 'खिल्य' शब्दों द्वारा ऐसी भूमि का उल्लेख किया गया है, जो कृषि योग्य क्षेत्रों के बीच स्थित होती थी और प्रायः चरागाह के रूप में प्रयुक्त होती थी। इससे भूमि-वर्गीकरण की विकसित समझ का संकेत मिलता है।

कृषि कार्य की महत्ता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि वैदिक समाज में कृषि से सम्बन्धित विविध उपकरणों और साधनों का व्यापक उपयोग होता था। जोताई और बोवाई के लिए हल, बैल और जुआद का प्रयोग किया जाता था। फसल काटने के लिए हँसिया, परिवहन के लिए गाड़ी तथा भण्डारण और प्रसंस्करण के लिए नाद, गोलाशा, प्रस्तर, कुठार और लोहे से बने उपकरणों का प्रयोग होता था। 'लोहदात्र' या 'वसूला' जैसे उपकरणों का उल्लेख यह दर्शाता है कि कृषि में धातु-निर्मित औजारों का भी प्रयोग प्रचलित था।

वैदिक युग में विविध प्रकार के अन्नों का उत्पादन किया जाता था। विभिन्न स्रोतों से ज्ञात होता है कि अन्न के अनेक प्रकार प्रचलित थे, जिनमें चावल (व्रीहि), जौ (यव), तिल, माष, सरसों, राई, प्रियंगु, ज्वार, मसूर आदि का उल्लेख मिलता है। खाद्यान्नों में गेहूँ का विशेष महत्त्व था। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में ईख (इक्षु) का भी उल्लेख मिलता है, यद्यपि यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि उस समय ईख की नियमित खेती होती थी या वह प्राकृतिक रूप से उगती थी।

अनाज बोने की विभिन्न ऋतुओं का भी स्पष्ट वर्णन वैदिक ग्रन्थों में मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि बीज बोने का समय आज के कृषि-चक्र के समान ही निर्धारित था। वर्ष में दो बार फसल बोई जाती

थी। उस समय भी कृषि को कीटों से हानि पहुँचने की समस्या विद्यमान थी तथा अल्पवर्षा और अतिवर्षा दोनों ही खेती के लिए हानिकारक मानी जाती थीं। इन समस्याओं से निपटने के लिए कृषि–नाशक कीटों से रक्षा के उपायों का भी उल्लेख मिलता है, जो वैदिक कृषकों की व्यावहारिक बुद्धि और अनुभव को दर्शाता है।

भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व, उत्तराधिकार तथा अविभाजन से सम्बन्धित नियमों का वैदिक युग में विशेष महत्त्व था। भूमि को सामान्यत: उपहार या दान में नहीं दिया जाता था और परिवार के मुखिया की अनुमति के बिना उसका विक्रय भी सम्भव नहीं था। यद्यपि शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मणों को भूमि–दान का उल्लेख मिलता है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि एक विशिष्ट और मूल्यवान सम्पत्ति होने के कारण केवल असाधारण परिस्थितियों में ही दान की जाती थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण से यह ज्ञात होता है कि सम्पत्ति के विभाजन, विनिमय और वितरण में भूमि की अपेक्षा पशुओं को देना अधिक प्रचलित था। इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक समाज में भूमि को स्थायी और संरक्षित सम्पत्ति माना जाता था, जबकि पशुधन को अपेक्षाकृत अधिक गतिशील आर्थिक साधन के रूप में देखा जाता था।

वैदिक आर्यों के जीवन में कृषि के साथ–साथ पशुपालन भी आजीविका का एक प्रमुख और अनिवार्य साधन था। पशुपालन वैदिक अर्थव्यवस्था की आधारशिला के रूप में प्रतिष्ठित था और आर्य जीवन में गाय को विशेष सम्मान प्राप्त था। गाय का दूध दैनिक आहार का एक प्रमुख अंग था तथा उससे प्राप्त घृत, दधि आदि पदार्थ धार्मिक अनुष्ठानों और घरेलू उपयोग—दोनों में प्रयुक्त होते थे। उस काल में किसी व्यक्ति की सम्पन्नता और सामाजिक प्रतिष्ठा का आकलन उसकी गौ–सम्पत्ति के आधार पर किया जाता था। लेन–देन, व्यवहार तथा क्रय–विक्रय में विनिमय के माध्यम के रूप में गाय की प्रधान भूमिका थी। कृषि कार्य में बैलों का व्यापक उपयोग किया जाता था, जिससे पशुपालन और कृषि का घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट होता है।

ऋग्वेद के 'अरण्यानी सूक्त' से यह ज्ञात होता है कि वैदिक युग में मनुष्य का पशु–पक्षियों के प्रति स्नेह और सहअस्तित्व का भाव आज की भाँति ही विकसित था। पशु–पक्षी न केवल उपयोगिता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे, बल्कि मानव जीवन के स्वाभाविक सहचर भी थे। वेदों तथा उत्तरवैदिक साहित्य में अनेक प्रकार के पशु–पक्षियों का उल्लेख मिलता है, जो उस समय की प्राकृतिक समृद्धि और जैव–विविधता का परिचायक है। उपलब्ध विवरणों के अनुसार गौ, अश्व, अश्वतर (खच्चर), मेष, महिष, उष्ट्र, अज, गर्दभ, हस्ती, व्याघ्र, वृक, सिंह, कुकुर, वृष, गौर मृग, हरिण, कस्तूरी मृग, कृष्णसार मृग तथा वराह आदि पशु वैदिक समाज से परिचित थे। सिंह को छोड़कर अधिकांश पशु पालतू थे और मानव जीवन के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे।

कृषि और परिवहन के लिए बैलों और घोड़ों का विशेष उपयोग होता था। गाड़ियाँ खींचने, खेत जोतने और दूरस्थ यात्राओं में ये पशु अत्यन्त सहायक थे। कुत्ते का भी वैदिक समाज में विशेष स्थान था। उसकी स्वामिभक्ति, सतर्कता और उपयोगिता के अनेक उदाहरण वैदिक साहित्य में मिलते हैं। ऋग्वेद में इन्द्र के विश्वासपात्र कुत्ते 'सरमा' का उल्लेख मिलता है, जो उसकी निष्ठा और चतुराई का प्रतीक माना गया है।

भेड़ों का प्रमुख उपयोग ऊन के लिए किया जाता था। इसी कारण ऋग्वेद में उन्हें 'ऊर्णावती' कहा गया है। ऊनी वस्त्रों का उल्लेख वेदों तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में अनेक बार हुआ है, जिससे वस्त्र–उद्योग

के विकास का संकेत मिलता है। विशेष रूप से गान्धार प्रदेश की भेड़ें उत्तम ऊन के लिए प्रसिद्ध थीं, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि विभिन्न क्षेत्रों की प्राकृतिक विशेषताओं के अनुसार पशुपालन और उससे जुड़े उद्योग विकसित हो चुके थे।

वैदिक भारत में जिन पशु-पक्षियों का उल्लेख मिलता है, वे आज भी लगभग उसी रूप में विद्यमान हैं। यह तथ्य उस काल की प्राकृतिक परिस्थितियों की निरन्तरता और संतुलन को दर्शाता है। पशु वैदिक आर्यों के दैनिक जीवन के सहचर थे और उनके जीवन में केवल धार्मिक अनुष्ठानों तक सीमित नहीं थे, बल्कि आर्थिक गतिविधियों के भी अभिन्न अंग थे। पशुपालन से प्राप्त दुग्ध, ऊन, चमड़ा और श्रम-शक्ति ने वैदिक अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ आधार प्रदान किया।

निष्कर्षत: यह स्पष्ट होता है कि वैदिक युग का आर्थिक जीवन सुव्यवस्थित, आत्मनिर्भर और प्रगतिशील था। वैदिक समाज की अर्थव्यवस्था का आधार कृषि और पशुपालन था, जिसमें पृथ्वी को माता और गाय को समृद्धि का प्रतीक माना गया। भूमि की उर्वरता, सिंचाई, खाद, कृषि-उपकरणों तथा फसलों की विविधता से कृषि के उन्नत स्वरूप का ज्ञान मिलता है। पशुपालन, विशेषत: गौ-पालन, न केवल आजीविका बल्कि विनिमय, दान और सामाजिक प्रतिष्ठा का भी प्रमुख साधन था।

इसके साथ ही शिल्प, कुटीर उद्योग, व्यापार, स्थल एवं जल-मार्गों से यातायात, वस्तु-विनिमय तथा सीमित मुद्रा-प्रयोग से आर्थिक गतिविधियों का व्यापक विस्तार दिखाई देता है। ऋण, व्याज, बाजार, व्यापारी वर्ग और समुद्री व्यापार के उल्लेख वैदिक अर्थव्यवस्था की परिपक्वता को प्रमाणित करते हैं। भूमि-स्वामित्व, उत्तराधिकार और पारिवारिक नियंत्रण जैसे नियम आर्थिक स्थिरता के द्योतक हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *मैक्समूलर, एफ.; ऋग्वेद संहिता (सायणभाष्य सहित), चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1966*
2. *Griffith R.T.H., The Hymns of the Rigveda, Motilal Banarsidass, Delhi, 1973*
3. *Macdonell A.A., Keith A.B., Vedic Index of Names and Subjects, Vol. I-II, Motilal Banarsidass, Delhi, 1982*
4. *शर्मा, रामशरण; प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1999*
5. *Altekar. A.S.. State and Government in Ancient India, Motilal Banarsidass, Delhi, 1958*
6. *काणे, पाण्डुरंग वामन; धर्मशास्त्र का इतिहास, खण्ड-1, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1962*
7. *Dasgupta Surendranath, A History of Indian Philosophy, Vol. I, Cambridge University Press, 1951*
8. *तिवारी, रामगोपाल; वैदिक संस्कृति और समाज, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयागराज, 1987*

9. अग्रवाल, वासुदेवशरण; *भारत की प्राचीन संस्कृति*, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1969।

10. ऋग्वेद, मण्डल 10, सूक्त 146 (अरण्यानी सूक्त); सायणभाष्य सहित

11. अथर्ववेद, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1971

12. यास्काचार्य; निरुक्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, वाराणसी, 1985

13. शतपथ ब्राह्मण; चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

14. तैत्तिरीय ब्राह्मण; आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना

15. Macdonell A.A. Vedic Mythology, Motilal Banarsidass, Delhi, 1974

16. Majumdar, R.C., The Vedic Age, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1965

17. Keith A.B., The Religion and Philosophy of the Veda, Harvard University Press, 1925

18. पाण्डेय, राजबली; प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1998

19. दत्त, रोमेशचन्द्र; प्राचीन भारत की सभ्यता, अनुवाद–हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1984

20. कोसाम्बी, डी.डी.; An Introduction to the Study of Indian History, Popular Prakashan, Bombay, 1975

21. नीलकण्ठ शास्त्री, के. ए.; A History of South India, Oxford University Press, Madras, 1966

22. शर्मा, राधाकृष्ण; वैदिक युगीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2001

23. चट्टोपाध्याय, डी.पी.; Science and Society in Ancient India, Research India Press, New Delhi, 1977

24. थापर, रोमिला; Early India : From the Origins to AD 1300, Penguin Books, New Delhi, 2002

25. बाशम, ए. एल.; The Wonder That Was India, Rupa & Co., New Delhi, 2004